प्रसंग

वैश्वीकरण से बदलते भारतीय शिक्षा नीति के सरोकार

❑ डॉ. अनिल सद्गोपाल

यह वैश्वीकरण का दूसरा पाठ है जो विश्व-ग्राम में शिक्षा को आम भारतीय के नजरिये से देखता है। इस आलेख में स्वतंत्र भारत की शिक्षा नीतियों के आन्तरिक अन्तर्विरोध ओर उन पर हावी औपनिवेशिक विरासत का निर्मम विश्लेषण है । साथ ही 'सबके लिए शिक्षा' के वैश्विक अभियान की प्रभान्विति में उभरे शैक्षिक-विभेद का विवरण है - जिसकी पृष्ठभूमि में प्रभुवर्ग के निहित स्वार्थ और सत्ता में उनकी पहुंच सक्रिय है । आलेख अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के देशज शिक्षा में हस्तक्षेप और उसके दुष्परिणामों से अवगत कराता है। 'विमर्श' में जिन्होंने अनिल सद्गोपाल का व्याख्यान पढ़ा है, उन्हें लगेगा कि वे कुछ बातें यहां दुहरा रहे हैं लेकिन ये ऐसी बातें हैं जिन्हें फिर से जोर देकर कहने की जरूरत है ।

मई 1990 में भारत सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 1986 की समीक्षा हेतु आचार्य राममूर्ति को अध्यक्षता में सत्रह-सदस्यीय समिति का गठन किया था । इस समिति का सदस्य होने के नाते मुझे अनुभव हुआ कि शिक्षा नीति के विश्लेषण की कोई वैज्ञानिक पद्धति विकसित नहीं हुई है । समिति का प्रत्येक सदस्य नीति के संबंध में अपनी निष्ठाओं, विचारों एवं अहसासों को व्यक्त करता है और इसी को विश्लेषण मान लिया जाता है । जब विभिन्न सदस्यों के मतों में अंतर होता है तो बात उसकी मानी जाती है जिसका अन्यान्य कारणों से ऊंचा दर्जा हो या राजनैतिक प्रभाव अधिक हो । जब नीति विश्लेषण की कोई मान्य वैज्ञानिक पद्धति विकसित नहीं हुई है तो आखिर और हो ही क्या सकता है ?

काफी लंबे समय से देश में यह भ्रम चला आ रहा है कि नीति तो हमेशा ठीक ही होती है, गड़बड़ क्रियान्वयन के स्तर पर होती है । आम धारणा है कि बढ़िया से बढ़िया नीति बनाने के बावजूद हम उसके क्रियान्वयन में असफल होते रहे हैं । लेकिन यदि हमारी नीति तर्क संगत नहीं है, वह हमारे समाज के यथार्थ के साथ मेल नहीं खाती और हम जिस प्रकार के समाज का निर्माण करना चाहते हैं उसके लिए उपयोगी भी नहीं है, तो फिर आप कितनी ही ईमानदारी से उसका क्रियान्वयन क्यों न करें, सही रास्ता आपको कभी नहीं मिलेगा। इससे उल्टा भी हो सकता है कि यदि नीति तार्किक आधारों पर बनी है और उसकी दिशा तथा मान्यताएं सही हैं, तब भी उसका गलत क्रियान्वयन हो सकता है । कुल मिलाकर नीति की तार्किकता, उसके सिद्धांत तथा मान्यताएं एक तरफ हैं और उसका क्रियान्वयन दूसरी तरफ ।

गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा (नई तालीम) का पूरा विचार बहुत स्पष्टता के साथ विकसित किया था कि किस तरह काम की दुनिया और 'ज्ञान की दुनिया' के बीच एक अभिन्न रिश्ता स्थापित करने की जरूरत है । उन्होंने बताया था कि काम करते हुए हम किस प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तथा काम और ज्ञान को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता । इस संदर्भ में गांधीजी ने 1937 में 'हरिजन' पत्रिका के हर अंक में एक-एक कालम लिखा जिस पर देश के अनेक बुद्धिजीवियों ने सवाल खड़े किए । गांधीजी ने उनके उत्तर में अपने विचार प्रकट किये । 1937 की 'हरिजन' पत्रिका के अंक इस संवाद से भरे हुए हैं । गांधी जी ने इसमें बार-बार स्पष्ट किया है कि वे व्यावसायिक शिक्षा यानी 'वोकेशनल एजुकेशन' या रोजगार दिलाने वाली शिक्षा की बात नहीं कर रहे हैं । बल्कि बात हो रही है हिन्दुस्तान में उत्पादन की जो पद्धति शैली, कारीगरी और निपुणताएं मौजूद हैं, उनके जरिए हम किस प्रकार से आधुनिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । इन दानों के बीच किस प्रकार का शिक्षाशास्त्रीय रिश्ता बनना चाहिए ? 1937 के वर्धा सम्मेलन में डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति का गठन हुआ । इस समिति ने आठ साल की बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम का एक दस्तावेज पेश किया जिसमें किस प्रकार से इन सिद्धांतों को पाठ्यक्रम में अपनाया जा सकता है, इसका नजरिया प्रस्तुत किया गया । तब यह उम्मीद बनी थी कि हिन्दुस्तान जब आजाद होगा तो इन सिद्धांतों को, जो आजादी की लड़ाई की विरासत के रूप में हमें मिले हैं, उन्हें हम सभी स्कूलों में लागू करेंगे, चाहे वे सरकारी स्कूल हों या निजी महंगे स्कूल, अमीर हों या गरीब, सभी बच्चे इस प्रकार की शिक्षा पाएंगे जिससे काम और ज्ञान का रिश्ता स्थापित हो सके ।

लेकिन 1947 के बाद आजाद हिन्दुस्तान की हमारी सरकार ने जो निर्णय लिए वे बहुत सोचे समझे निर्णय थे । इनमें विधिवत तरीके से आजादी की इस विरासत को नकारा गया और बहुत जल्द लगने लगा कि कुछ भी बदलने वाला नही है । वही ब्रिटिश राज

से मिली शिक्षा चलेगी जिसमें काम और उत्पादन एक तरफ होता था तथा ज्ञान दूसरी तरफ, एकदम कटा हुआ । ज्ञान और काम के इस विखंडन को बरकरार रखना, सरकार का सोचा समझा निर्णय था, गलती नहीं । इस निर्णय के तहत गांधी जी के विचार को नकारा गया था । इतिहासकारों ने अब इस सवाल को उठाना शुरू किया है कि उस वक्त आखिर वे कौन से कारण रहे होंगे जिनकी वजह से काम और ज्ञान के इस रिश्ते को स्वीकारा नहीं गया । इस पर लोगों के अलग-अलग मत हो सकते हैं।

इसका स्पष्ट कारण राजनैतिक है । सत्ता के द्वारा जब भी कोई निर्णय लिया जाता है तो किसी न किसी रूप में वह उन ताकतों की इच्छाओं और अपेक्षाओं को व्यक्त करता है जो उस समय सत्ता में रहती है । आप पूछेंगे कि आजाद हिन्दुस्तान में जो नई सरकार बनी उसमें किसकी ताकत चलती थी बहुत स्पष्ट जवाब है कि जिनके पास जमीनें थीं, उद्योग-धन्धे थे, पूंजी थी । और वे लोग नहीं चाहते थे कि गांधी की शिक्षा का सिद्धांत हमारे स्कूलों में उतारा जाए । क्योंकि यह सिद्धांत अपने आप में इतना क्रांतिकारी था कि जो आम उत्पादन देश में चल रहा है, गांवों में कारीगरी चल रही है और नाना प्रकार की जो निपुणताएं विकसित हो रही हैं वे किस प्रकार से ज्ञान का स्रोत बनेंगी, यह बताया गया था जिस दिन इस सिद्धांत को स्वीकार लिया जाएगा उस दिन से हमारे स्कूलों में केवल बी.एड पास करने वाला शिक्षक नहीं रह जाएगा । बल्कि उसके साथ देश के वे लाखों कारीगर भी शिक्षक बनेंगे जो हर गांव में मौजूद हैं (लुहार, बढई, बुनकर, चर्मकार, दाइयां आदि) । इसके अलावा तमाम प्रकार के वे लोग जो कि औपचारिक शिक्षा से तो वंचित हैं लेकिन उनके पास बहुत सारी निपुणताएं हैं (रेडियो मोटर, टी.वी. आदि की मरम्मत करने वाले), जिनकी संख्या भी लाखों में हैं लेकिन उनके पास कोई डिग्री नहीं है, उनके पास ज्ञान है । हमारे स्कूलों में ये कारीगर उस ज्ञान का स्रोत बन सकेंगे और तब स्कूली शिक्षा के ऊपर जो रुढिवादी शैक्षिक महंतों का आधिपत्य है, उसको चुनौती दी जा सकेगी । देश के तमाम बच्चे जब इस प्रकार की शिक्षा पाएंगे तो शिक्षा का चरित्र बदलेगा ।

इस विचार का डर ही काफी था । इसलिए उस समय गांधी की इस नीति को नकारा गया । लेकिन इस देश में गांधी को नकारना हमेशा ही बहुत मुश्किल रहा है तो गांधी के लेबल लगाकर नए-नए नाम बार-बार लाए गए । इसका सबसे सटीक उदाहरण कोठारी आयोग है । एक किलो से भी ज्यादा वजन की इस रपट में गांधी के शैक्षिक विचारों की जिस निर्ममता से हत्या की गई है, वैसी शायद ही किसी और ने कभी की हो । क्योंकि गांधी की बात करते करते इस रपट (1964-66) में कह दिया गया कि हम बुनियादी शिक्षा के उस सिद्धांत को तो नहीं ला पाएंगे लेकिन उसके लेबल को स्वीकारते हुए कार्यानुभव (वर्क एक्सपीरियंस) को अवश्य लाएंगे । इस 'वर्क एक्सपीरियंस' के इतिहास में यदि जाएं तो पता चलेगा कि यह हमारे देश की मिट्टी से उपजा विचार नहीं है । यह तो सोवियत रूस के इतिहास से जुडा है जहां कार्यानुभव के कुछ कार्यक्रम बरसों से चल रहे थे और उस समय हिन्दुस्तान पर सोवियत रूस का बड़ा प्रभाव था । इस आयोग के सदस्यों में सोवियत रूस के एक शिक्षाशास्त्री भी मौजूद थे ।

आपको शायद ही मालूम हो कि हिन्दुस्तान का यह एक मात्र शिक्षा आयोग है जिसमें इंग्लैण्ड, अमरीका, जापान, सोवियत रूस, और फ्रांस इन पांच देशों के शिक्षाशास्त्री आयोग की रपट लिखने में शामिल थे । सोवियत रूस के शिक्षाशात्री ने जब अपने यहां के कार्यानुभव का पूरा इतिहास प्रस्तुत किया और उसकी उपयोगिता बताई, तब आयोग को लगा कि गांधी के विचारों से मुक्ति पाने का यही सबसे बढ़िया मौका है - हम नई तालीम की बात बंद करके कार्यानुभव की बात करें और कहें कि गांधी जी यही तो बोल रहे थे ।

कोठारी आयोग का एक सकारात्मक पक्ष है जिसको मैं यहां पेश करना चाहूंगा । आयोग ने एक सिफारिश की थी, 'कामन स्कूल सिस्टम' या 'समान शिक्षा व्यवस्था' की । यह साठ के दशक की शब्दावली है और उस समय अपने आप में एक क्रांतिकारी विचार के रूप में सामने आई थी । कोठारी आयोग ने कहा कि जब तक हिन्दुस्तान में ऐसी स्कूल प्रणाली स्थापित नहीं होगी जिसके जरिए हर बच्चे को चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति, संप्रदाय, क्षेत्र या लिंग का हो, समान गुणवत्ता वाली शिक्षा दी जा सके, तब तक हिन्दुस्तान में सौहार्द और बराबरी का रिश्ता स्थापित नहीं हो पाएगा।

आयोग की समान स्कूल व्यवस्था वाली अनुशंसा को हमारे देश की संसद ने बिना किसी भेदभाव के तीन बार (1986 की पहली शिक्षा नीति तथा 1989 की दूसरी शिक्षा नीति और 1992 की संशोधित शिक्षा नीति) स्वीकारते हुए क्रियान्वित करने का संकल्प लिया। इसके बावजूद 1968 से लेकर आज तक क्या हुआ ? आप सब अच्छी तरह से जानते हैं कि लगातार व्यवस्थित रूप से शिक्षा नीति का उल्लंघन हुआ है । इस नीति की अभी घोषणा ही हो रही थी कि सरकारी निर्णय की बदौलत केन्द्रीय स्कूल प्रणाली स्थापित हुई , सैनिक स्कूल बने । जिस तेजी के साथ सत्तर के दशक में प्राइवेट स्कूल प्रणाली विकसित हुई, उस तेजी के साथ ब्रिटिश राज में भी कभी नहीं हो पाई थी । 1986 की शिक्षा नीति के बनने तक हिन्दुस्तान में जो सबसे खराब स्कूल प्रणाली मानी जाती थी वो सरकारी स्कूली प्रणाली थी । जिस भी मां बाप के पास जरा सी अतिरिक्त आय हुई कि वह अपने बच्चे को सरकारी स्कूल से निकालकर प्राइवेट स्कूल में ले गया ।

सन् 1990 में थाईलैण्ड के जोमतियन नामक शहर में 'सबके लिए शिक्षा' (एजुकेशन फॉर ऑल) का विश्व स्तरीय शिक्षा सम्मेलन हुआ । विश्व बैंक द्वारा आयोजित इस सम्मेलन को कई अंतरराष्ट्रीय एजेंसियों का समर्थन प्राप्त था । इस विश्व सम्मेलन में भारत सरकार ने शिक्षा पर एक पर्चा पेश किया । इस पर्चे में हमारे देश की शिक्षा के बारे में जानकारी दी गई थी । उसमें एक पूरा अध्याय औपचारिकेतर (नॉन फार्मल) शिक्षा पर है, जिसमें लिखा है कि औपचारिकतर शिक्षा केन्द्र बच्चों के अनुकूल समय पर लगेंगे तथा उनकी पहुंच के भीतर होंगे । उनमें पढ़ाने वाले शिक्षक भी उसी गांव के होंगे ताकि बच्चों को उनकी संस्कृति के अनुरूप उनकी मातृभाषा में पढ़ा सकें। इसका पाठ्यक्रम बच्चों के परिवेश से जुड़ा हुआ और लोचदार होगा । इसमें काम और ज्ञान को जोड़कर शिक्षा देने की व्यवस्था की जाएगी । इसका मतलब यह है कि विश्व शिक्षा सम्मेलन में भारत सरकार ने स्वीकार किया है कि औपचारिक स्कूल:

- ऐसे समय पर लगेंगे जो बच्चों के अनुकूल नहीं होगा ।
- बच्चों की पहुंच में नहीं होंगे ।
- उनका पाठ्यक्रम लोचदार नहीं होगा, न ही स्थानीय परिवेश से जुड़ा होगा ।
- उनमें स्थानीय शिक्षक नहीं होंगे ।
- उनमें काम तथा ज्ञान को जोड़कर शिक्षा नहीं दी जाएगी।
- उनमें बच्चों को उनकी संस्कृति से जोड़कर मातृभाषा में शिक्षा नहीं दी जाएगी ।

फिर सवाल उठता है कि हिन्दुस्तान में जो साढ़े सात लाख स्कूलों (सवा पांच लाख प्राइमरी और सवा दो लाख मिडिल स्कूल) का विशाल तंत्र खड़ा है उसको कैसे बेहतर बनाया जाये। सरकार ने तो स्वीकार कर लिया कि ये स्कूल वैसे ही रहेंगे । अब फैसला हमें करना है कि इन स्कूलों को करोड़ों बच्चों के लायक कैसे बनाया जाए । उदाहरणत: आप कभी मध्य प्रदेश जाएं और वहां की सरकार से कहें कि हमें अपना एक अच्छा-सा स्कूल दिखा दीजिए तो वे आपको कभी भी औपचारिक स्कूल में ले जाने की हिम्मत नहीं करेंगे । वे कहेंगें हां ! योरोपीय समुदाय द्वारा समर्थित स्कूल देखने के लिए चलते हैं और उनमें से भी कोई चुना हुआ स्कूल दिखा देंगे ।

सत्ता के द्वारा जब भी कोई निर्णय लिया जाता है तो किसी न किसी रूप में वह उन ताकतों की इच्छाओं और अपेक्षाओं को व्यक्त करता है जो उस समय सत्ता में रहती है । आप पूछेंगे कि आजाद हिन्दुस्तान में जो नई सरकार बनी उसमें किसकी ताकत चलती थी बहुत स्पष्ट जवाब है कि जिनके पास जमीनें थीं, उद्योग–धन्धे थे, पूंजी थी । और वे लोग नहीं चाहते थे कि गांधी की शिक्षा का सिद्धांत हमारे स्कूलों में उतारा जाए ।

इस पूरी प्रक्रिया को हम 'समानांतरीकरण' कहते हैं, भारतीय शिक्षा इन समानांतर प्रणालियों को खड़ा करती जा रही है। हर तबके के लिए एक अलग प्रणाली और हर प्रणाली एक अलग ढंग की शिक्षा का नाम लेती है । हर प्रणाली के जरिए कुछऔर कहने की कोशिश की जाती है इसका सबसे बड़ा उदाहरण है 'राष्ट्रीय साक्षरता मिशन'।

सन् 1986 की नीति में एक पूरा पैराग्राफ है जिसका शीर्षक है - एक संकल्प । इसमें संकल्प लिया गया है कि इस प्रकार के प्रबंध करेंगे और रणनीतियां अपनाएंगे जिनके जरिए हिन्दुस्तान के 8 वर्ष तक की आयु तक के सभी बच्चों को 1990 तक प्राइमरी स्तर की तथा 1995 तक 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को मिडिल स्तर की शिक्षा उपलब्ध करा दी जाएगी। इस संकल्प से ऐसा लगने लगा था कि इस बार सरकार की सारी ऊर्जा प्राइमरी तथा मिडिल स्तर तक की शिक्षा उपलब्ध कराने में लगेगी। लेकिन 1986 की नीति में किए गए संकल्प के प्रति सरकार कितनी गंभीर थी? सातवीं पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के लिए आठ सौ करोड रुपयों का प्रावधान रखा गया जबकि इसकी तुलना में केन्द्रीय सरकार के एक मात्र कार्यक्रम जिसे औपचारिक स्कूलों को बेहतर बनाने के लिए शुरू किया गया था यानी आपरेशन ब्लैक बोर्ड के लिए मात्र चार सौ करोड का प्रावधान था । देखिए प्राथमिकताएं किस तरह से बदलती है। 1986 की नीति में लिए गए संकल्प के तहत ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड को सर्वोच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए थी लेकिन प्राथमिकता मिली प्रौढ़ साक्षरता को ।

इसके बाद जो हुआ वह और भी अजीबोगरीब है । प्रौढ़ साक्षरता की कक्षाओं में प्रौढ़ कम और बच्चे ज्यादा आते थे । 1993 में भारत सरकार ने निर्णय लिया कि अब प्रौढ़ साक्षरता (जो 15 से 35 वर्ष के आयु-समूह के लिए थी) कक्षाओं में 9-14 वर्ष आयु वर्ग के बच्चे भी आ सकते हैं । जो व्यवहार में हो रहा था उसको न्यायोचित ठहराने के लिए यह आवश्यक हो गया था । इस तरह से प्रौढ़ साक्षरता में 9-14 वर्ष आयु-समूह के बच्चे भी शामिल किए गए ।

अब हम परिप्रेक्ष्य, नीति और कार्यक्रम की रूपरेखा, इन तीनों स्तरों की बात कर रहे हैं । कार्यक्रमों की रूपरेखा एक प्रकार

का डिजाइन है, जिस डिजाइन के जरिए सरकार नीति को अमली जामा पहनाना चाहती है , क्रियान्वयन तो बाद में होगा, पहले कार्यक्रम की रूपरेखा बनेगी । अब इसकी एक मिसाल देखिए, 1986 की शिक्षा नीति के दौरान नवोदय विद्यालय की एक और परत बिछाई गई थी । नवोदय विद्यालय के बारे में नीति का पैराग्राफ कहता है कि सरकार एक ऐसे स्कूल समूह का निर्माण करना चाहती है जिनको गति निर्धारक स्कूल यानी पेस सेटिंग स्कूल कहा जाएगा। इसके जरिए ऐसी स्कूल प्रणाली का निर्माण किया जाएगा जो शिक्षा को गति दे सके और पूरे देश के स्कूलों में सुधार लाने के कार्यक्रम में उत्प्रेरक का काम कर सके । नवोदय विद्यालय का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य यह था कि गांव के प्रतिभाशाली बच्चों के लिए विशेष शैक्षिक सुविधाओं का निर्माण करना । नीति के अनुसार इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाएगा कि अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के बच्चों के लिए भी यह सुविधा उपलब्ध हो। इसको करते हुए राष्ट्रीय एकता स्थापित करने की कोशिश भी की जाएगी । कार्यक्रम की रूपरेखा में कहा गया है कि बच्चे दो तरह के होते हैं, एक वे जो प्रतिस्पर्धा परीक्षा में ज्यादा नम्बर लाते हैं, दूसरे वे जो कम नंबर लाते हैं। ज्यादा नंबर लाने वाले बच्चों के लिए आम बच्चों की वनिस्पत ज्यादा गुणवता वाली शैक्षिक सुविधाएं होनी चाहिए । नीति के अनुसार इसके लिए नवोदय स्कूल प्रणाली स्थापित की जाएगी ।

नीति क्या कह रही है ? और कार्यक्रम की रूपरेखा क्या कह रही है ? नीति में प्रतिभाशाली बच्चों की कोई परिभाषा नहीं दी गई है, परिभाषा दी है कार्यक्रम की रूपरेखा में । उसके अनुसार प्रतिभा का मतलब परीक्षा में ज्यादा अंक लाना है । जबकि प्रतिभा और ज्यादा अंक प्राप्त करने में फर्क है । नवोदय विद्यालय में भर्ती के लिए एन.सी.आर.टी. बच्चों का एक परीक्षण करके उनमें से प्रतिभाशाली बच्चों को छांटने का काम करेगी । प्रत्येक जिले में एक आवासीय नवोदय विद्यालय होगा और हरेक नवोदय विद्यालय में हर साल केवल अस्सी बच्चों को प्रवेश मिलेगा । इस तरह के करीब 400 नवोदय विद्यालय देश में चल रहे हैं । प्रत्येक जिले में करीब 10-12 लाख वाली आबादी में से हर साल एन.सी.आर.टी. परीक्षण के जरिए केवल 80 बच्चों को प्रवेश देकर बाकी बच्चों पर प्रतिभाहीन का ठप्पा लगा दिया जाता है ।

1985-86 में जब कार्यक्रम की रूपरेखा बन रही थी तब तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री नरसिंह राव की अध्यक्षता में शिक्षाविदों की एक समिति गठित हुई । उस समिति की बैठक में शिक्षाविदों ने नरसिंहराव को स्पष्ट शब्दों में सूचित किया कि प्रतिभा की न तो कोई मान्य परिभाषा है और न ही इसके मापन का कोई ऐसा तरीका मालूम है जो भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुकूल हो । इसके बावजूद नरसिंह राव ने घोषित किया कि नवोदय विद्यालय बनाने का निर्णय शीर्षस्थ स्तर पर (यानी प्रधान मंत्री राजीव गांधी के स्तर पर) लिया जा चुका है और अब विशेषज्ञों का काम सवाल उठाना नहीं है, बल्कि निर्णय को मात्र क्रियान्वित करना है । इसके मायने हैं कि नीति ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिभा विकसित करने का प्रावधान करती है। इस छोटे से प्रावधान के लिए भी नवोदय विद्यालय में हरेक बच्चें के पीछे 12,000 रुपये प्रति वर्ष (1990 की कीमत पर) खर्च किये जाऐंगे और स्कूल के भवन पर तीन करोड रुपए की पूंजी लगाई जाएगी । इसकी तुलना में सरकारी स्कूल में एक बच्चे पर औसतन 400-500 रुपये प्रति वर्ष (1990 की कीमत पर) खर्च का प्रावधान रखा जाता है और स्कूल भवन निर्माण के लिए बमुश्किल 20-30 हजार रुपए का । कार्यक्रम की यह रूपरेखा नीति का स्पष्टत: उल्लंघन करती है क्योंकि इसमें ग्रामीण क्षेत्रों के विशेष प्रतिभा या अभिरुचि वाले सभी बच्चों के लिए अच्छी शिक्षा उपलब्ध कराने का कोई कार्यक्रम प्रस्तावित नहीं है । प्रतिभा की न केवल संकीर्ण बल्कि विकृत परिभाषा देकर भी नवोदय विद्यालय की दृष्टि और नीति के उद्देश्यों के बीच गहरा अंतर्विरोध उभर आया है। दरअसल, प्रतिभा की इस संकीर्ण और विकृत परिभाषा के कारण वे अधिकांश बच्चे 'प्रतिभाहीन' घोषित हो जाते हैं जिनमें अन्यान्य प्रकार की प्रतिभाएं और अभिरूचियां विकसित हुई हैं । एक सवाल और भी है । शैक्षिक शोध साहित्य में इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि चंद बच्चों को शेष बच्चों और उनके अपने सामाजिक-सांस्कृतिक माहौल से अलग करके विशेष माहौल में रखा जाए तो इससे उनका बेहतर शैक्षिक विकास होगा । अत: नवोदय विद्यालय एक ऐसी मनगढंत कल्पना है जिसका नीति के उद्देश्यों से कोई तालमेल नहीं है । इसके अलावा भी नवोदय विद्यालय की योजना निम्नलिखित मायनों में नीति के अन्य पक्षों का उल्लंघन करती है :

- जाहिर है इससे 1968 और 1986 की नीतियों में स्वीकारे गए समान स्कूल व्यवस्था का सिद्धांत टूटेगा ।

- गांव के बच्चों को बिना किसी वैज्ञानिक आधार के प्रतिभाशाली और प्रतिभाहीन श्रेणियों में बांट दिया जाएगा । इससे अधिकांश बच्चों की नाना प्रकार की प्रतिभाओं और अभिरुचियों (उदाहरणत: सृजनात्मकता, चिंतनशीलता, संवेदनशीलता, ललित कलाओं या खेलकूद में दक्षता, नेतृत्व क्षमता, प्रकृति प्रेम, सामाजिक सरोकार आदि) की अवेहलना होगी । अत: इससे नीति और संविधान दोनों में निहित बराबरी और सामाजिक न्याय स्थापित करने के उद्देश्य का उल्लंघन होता है।

- ये अति सुविधा संपन्न स्कूल इस लायक नहीं रह जाएंगे कि आस-पडौस के सुविधाहीन सरकारी स्कूलों के लिए 'गति-निर्धारक' की भूमिका निभा सकें । न ही ये देश भर के स्कूलों में सुधार के लिए उत्प्रेरक की भूमिका निभा सकेंगे - ये मात्र गैर-प्रासंगिक टापू ही बन सकते हैं ।

कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि नवोदय विद्यालय हेतु बनाई गई कार्यक्रम की रूपरेखा और संबंधित नीति के बीच एक गहरा विरोधाभास है । तो यह एक मिसाल हुई नीति विश्लेषण की । इसी प्रकार निम्नांकित विरोधाभासों के आधार पर नीति विश्लेषण की पद्धति विकसित की जा सकती है ।

- सामाजिक - आर्थिक हालात (यानि परिप्रेक्ष्य दस्तावेज) और नीति के बीच विरोधाभास
- नीति और संविधान के बीच विरोधाभास
- नीति के अंदर ही विभिन्न हिस्सों या पक्षों की बीच विरोधाभास।
- शिक्षा नीति और देश की सामाजिक, आर्थिक़ व सांस्कृतिक नीतियों के बीच विरोधाभास ।
- नीति/कार्यक्रम की रूपरेखा और शिक्षा तंत्र के बीच विरोधाभास ।
- एक ओर शिक्षा नीति एवं दूसरी ओर वैश्वीकरण व बाजारीकरण की नीतियों के बीच विरोधाभास ।

एक और जरूरी बात । नवोदय विद्यालय के जरिए सरकार ने दो राजनैतिक उद्देश्य पूरे करने की एक साथ कोशिश की है । पहला, ग्रामीण क्षेत्रों में हरित क्रांति के फलस्वरूप विकसित नवधनाढय वर्ग और शहरी अभिजात वर्ग की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए एक लॉलीपाप प्रस्तुत किया गय। दूसरा प्रारंभिक़ शिक्षा (कक्षा 1 से 8) के लिए बने हुए आठ लाख स्कूलों के विशाल सरकारी स्कूलों तंत्र की बदहाली से धन हटाने की कोशिश की गयी ।

1990 के जोमतियन सम्मेलन (थाईलैण्ड) ने भारतीय शिक्षा के पूरे इतिहास को एक नया और नकारात्मक मोड दिया । यह मोड इतना महत्वपूर्ण है कि जब भी हमारे देश की शिक्षा का इतिहास लिखा जाएगा तो इसे स्पष्ट रूप से दो चरणों में पहचाना जा सकेगा। पहला पूर्व जोमतियन चरण और दूसरा उत्तर जोमतियन चरण । पूर्व - जोमतियन चरण वह था जिसमें भारत की शिक्षा नीतियों में किसी न किसी रूप में यह कोशिश होती थी कि वह देश के संविधान के अनुरूप काम करे, बाजूद इसके कि उसमें चाहे कितनी ही विकृतियां और विरोधाभास क्यों न हो। लेकिन नीति निर्धारकों को मालूम था कि संविधान में शिक्षा और सामाजिक विकास के जो मूल उद्देश्य लिखे हुए हैं उनको पूरा करना उनकी प्राथमिकता बतौर जवाबदेही है यानी नीति निर्धारण का नैतिक और वैधानिक आधार संविधान होता था। परंतु उत्तर जोमतियन सम्मेलन के बाद संविधान के आधार की जगह वैश्वीकरण की बाजार-आधारित नीतियों ने ले ली तथा भारत सरकार का स्थान अंतराष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्वबैंक ने ।

कोठारी आयोग का एक सकारात्मक पक्ष है जिसको मैं यहां पेश करना चाहूंगा । आयोग ने एक सिफारिश की थी, 'कामन स्कूल सिस्टम' या 'समान शिक्षा व्यवस्था' की । कोठारी आयोग ने कहा कि जब तक हिन्दुस्तान में ऐसी स्कूल प्रणाली स्थापित नहीं होगी जिसके जरिए हर बच्चे को चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति, संप्रदाय, क्षेत्र या लिंग का हो, समान गुणवत्ता वाली शिक्षा दी जा सके, तब तक हिन्दुस्तान में सौहार्द और बराबरी का रिश्ता स्थापित नहीं हो पाएगा।

इसके अलावा एक और फर्क भी आया जो चुपचाप हो गया। पूर्व जोमतियन चरण में शिक्षा नीतियों या कार्यक्रम की रूपरेखा में संसद से पूछे बगैर कोई भी परिवर्तन नहीं किया जाता था । लेकिन उत्तर जोमतियन चरण में ससंद द्वारा तय की हुई नीति और कार्यक्रम की रूपरेखा में संसद से पूछे बगैर ही महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। यानी ससंद को हाशिए पर खडा कर दिया गया और उसकी जगह हर सलाह मशविरा विश्व बैंक, यूरोपीय समुदाय एवं अन्य अन्तरराष्ट्रीय वित्त एजेंसियों के साथ होने लगा। यह इसलिए संभव हो सका क्योंकि हम अपने बच्चों की शिक्षा के लिए पूर्व में खर्च किये जा रहे 100 पैसों में 4 पैसे और जोडने की हिम्मत नहीं जुटा पाए। विगत दो तीन वर्षों में एक नई प्रवृत्ति केन्द्र में उभरी है। अब अंतरराष्ट्रीय वित्त एजेंसिया सीधे राज्य सरकारों के साथ समझौते करने लगी हैं जैसे केन्द्र का कोई महत्व ही न हो। वह दिन दूर नहीं, जब विश्व बैंक हमारे संविधान, संसद, केन्द्र और राज्य सरकारों, इन सभी को लांघकर सीधे ग्राम पंचायतों के साथ समझौतों पर दस्तखत करने लगेगा । विश्व बैंक की यह प्रक्रिया 'राज्य की भूमिका को समाप्त करने की उसकी स्थापित नीति के अनुरूप है - राज्य की भूमिका को कमजोर करके ही सीधे बाजार पर कब्जा किया जा सकता है ।

हमारे संविधान का खंड 4 (नीति निर्देशक तत्व) का अनुच्छेद 45 स्पष्ट रूप से कहता है कि 1960 तक यानी संविधान बनने

के दस वर्षों के अंदर राज्य 14 वर्ष तक के सभी बच्चों के लिए नि: शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करेगा । 14 वर्ष की आयु तक की व्याख्या भी 1950 में ही कर दी गई थी कि आम तौर पर बच्चे 5-6 वर्ष की आयु तक आठवीं कक्षा की शिक्षा पूरी कर लेंगे । इसलिए प्राथमिक यानी पांचवीं और उत्तर प्राथमिक या मिडिल यानी कक्षा 6-8 जोडकर 14 वर्ष की आयु तक आठवीं कक्षा की शिक्षा पूरी करेंगे । 1950 से लेकर 1990 तक यानी चालीस वर्षों तक जब भी नीति निर्धारण हुआ तो उसमें प्राइमरी और मिडिल दोनों को जोडकर पूरी प्रारंभिक (एलिमेंट्री) शिक्षा की बात की जाती रही है । सरकार ने हमेशा ही इसे अपना संवैधानिक दायित्व माना है भले ही पूरा न किया हो, वह बात अलग है ।

लेकिन 1990 में जोमतियन सम्मेलन के बाद से सरकार की यह प्रतिबद्धता बहुत तेजी से खत्म हुई है । सम्मेलन में तीसरी दुनिया के अनेक देशों के साथ-साथ भारत ने भी उन दस्तावेजों पर दस्तखत किए जिनमें बच्चों को शिक्षा देने के लिए सबके लिए शिक्षा कार्यक्रम के तहत अंतरराष्ट्रीय मदद लेने की स्वीकारोक्ति लिखी गई थी । स्कूलों को बेहतर बनाने के लिए पहले भी यदा कदा मदद ली गई थी लेकिन बतौर नीति ऐसा पहले कभी नहीं हुआ । नीति स्वीकारते ही अब भारत सरकार बडे पैमाने पर अंतरराष्ट्रीय वित्तीय, शैक्षिक तथा तकनीकी संसाधन भी स्वीकारने लगी है। 1994 में जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डिस्ट्रिक्ट प्राइमरी एजुकेशन प्रोग्राम, डी.पी.ई.पी.) के चालू होते ही मिडिल स्कूल की शिक्षा (यानि कक्षा 6 से 8 तक) की बात तक नहीं होती है । नीति निर्धारक लोग अब सिर्फ प्राथमिक शिक्षा (प्राइमरी एजुकेशन) को ही जानते हैं ।

जो बच्चे अब पांच साल की शिक्षा पूरी करके निकलेंगे वे क्या करेंगे ? पहले से ही हालत इतनी बुरी है कि औसतन पांच प्राइमरी स्कूलों के पीछे एक मिडिल स्कूल है । कुछ राज्यों में तो आठ दस प्राइमरी स्कूलों के पीदे एक मिडिल स्कूल है। सचाई तो यह है कि पांच प्राइमरी स्कूलों के पीछे एक मिडिल स्कूल वाला अनुपात बना ही इसलिए था चूकि अधिकांश मिडिल स्कूल शहरी इलाकों में थे । यदि आप ग्रामीण इलाकों का अनुपात देखें तो हाल और भी बुरा है । अब चूंकि बड़े पैमाने पर केवल प्राइमरी शिक्षा को आगे बढ़ाया जा रहा है तो यह अनुपात और भी बिगड़ेगा । गांव के लोग इस बात को लेकर बहुत चिंतित हैं, खास तौर पर लड़कियों के मां-बाप ।

संविधान के अनुच्छेद 45 के साथ यह कितना बड़ा मजाक है, इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि यदि शहरी इलाकों के मिडिल स्कूलों को जोड़ लें तब भी पांच प्राइमरी स्कूलों के पीछे सरकार एक मिडिल स्कूल खोलती है तो इसका मतलब क्या है ? मान लीलिए कि पांचवी कक्षा में औसतन 30 बच्चे होंगे? ग्रामीण इलाके में 150 बच्चे जब कक्षा 5 पूरी करके निकलेंगे तो उनके लिए केवल एक मिडिल सकूल होगा जहां सिर्फ 30 या 35 बच्चे ही लिए जायेंगे । इसका मतलब है कि सरकार खुद ही कह रही है कि हमारी व्यवस्था में 120 बच्चों को ड्रापआउट होना ही है । साफ संदेश है कि सरकार संविधान के अनुच्छेद 45 को नहीं मान रही है, जोमतियन सम्मेलन के बाद से यह और भी स्पष्ट हो गया है। अब पांच साल की शिक्षा के लिए विदेशी पैसा कर्ज के रूप में आसानी से मिल रहा है तो स्वाभाविक है कि मिडिल स्कूल की सुविधाएं दिन-प्रतिदिन कम होती जाएंगी चाहे वह स्कूल भवन हो, शैक्षिक साधन, टाट-पट्टी, शिक्षकों की संख्या या शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात का मामला हो, सब कुछ तेजी से बिगड़ता दिखेगा।

जब भी कोई नीति बनती है तो उसको बनाने वाले जो लोग सत्ता में होते हैं उनकी समझ और मान्यताएं उस नीति में प्रतिबिंबित होती हैं । नीति-निर्माण की प्रक्रिया को सत्ताधारी सामाजिक ताकतों के निहित स्वार्थों और दीर्घकालीन उद्देश्यों को आगे बचाने की प्रक्रिया के रूप में देखने की जरूरत है । इसलिए यह स्वाभाविक सवाल है कि विश्व बैंक जो इस समय भारत की प्राथमिक शिक्षा के लिए नीति-निर्माण में प्रमुख भूमिका निभा रहा है, उसकी मान्यताएं, निहित स्वार्थ, दीर्घकालीन उद्देश्य क्या हैं । 1997 में जिला प्राथमिक शिक्षा सम्मेलन आयोजित किया गया । इस सम्मेलन में भारत की प्राथमिक शिक्षा के बारे में विश्वबैंक द्वारा लिखी हुई एक पुस्तक भारत सरकार ने सबको बांटी । गौरतलब है कि देश की शिक्षा के हालात पर भारत सरकार ने अपना कोई दस्तावेज नहीं बांटा । या ये कहिए कि भारत सरकार ने शिक्षा के हालात का आकलन करने और भावी कदम तय करने की जिम्मेदारी विश्वबैंक को सौंप दी ।

विश्व बैंक की उपरोक्त पुस्तक के पहले पन्ने पर ही शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में उसकी समझ स्पष्ट रूप से उभरकर आती है। कुल मिलाकर दो प्रकार के उद्देश्यों को रेखांकित किया गया है । पहला, वैश्वीकरण और बाजारीकरण की जरूरतों के संदर्भ में शिक्षा के जरिए लोगों को प्रौद्योगिकी में तेजी से हो रहे परिवर्तनों के लिए तैयार किया जा सकेगा । शिक्षा मजदूरों की उत्पादन क्षमता और कमाई को बढाएगी । नई प्रौद्योगिकी के लिए तैयारी, उत्पादन-क्षमता और कमाई का बढना आदि ऐसे उद्देश्य हैं जो उपभोक्तावाद और वैश्वीकरण की सफलता के लिए जरूरी है । शिक्षा का दूसरा उद्देश्य विश्वबैंक की जनसंख्या विस्फोट के बारे में चिंता से जुड़ा हुआ है । एक लंबे अरसे से यह स्थापित करने की कोशिश हो रही है कि गरीबी का मुख्य कारण जनसंख्या विस्फोट है, न कि समाज में व्याप्त गैर बराबरी एवं प्राकृतिक संसाधनों तथा पूंजी का विषमता मूलक वितरण ।

अत: विश्व बैंक और उसके समर्थकों के लिए यह जरूरी हो गया है कि शिक्षा के जरिए दो लक्ष्य हासिल कर लिए जाएं । एक ओर तो सभी बच्चों के दिमाग में यह धारणा स्थापित कर दी जाये कि गरीबी का मुख्य कारण आबादी का बढ़ना है ताकि वे संसाधनों और पूंजी के विषमतामूलक वितरण का सवाल कभी न उठायें । दूसरी ओर आबादी बढ़ने की दर को नियंत्रित करना एक आवश्यक और अपने आप में संपूर्ण लक्ष्य बन गया है । इसके लिए लड़कियों को परिवार और समाज में यह संदेश फैलाने का प्रमुख जरिया माना गया है। अत: लड़कियों को शिक्षित करने का उद्देश्य उनका समग्र विकास करना नहीं, बल्कि उनके जरिये प्रजनन दर को नियंत्रित करने वाले साधनों का उपयोग बढ़ाने का होगा । विश्व बैंक की स्पष्ट समझ है कि महिलाओं के मानस पर नियंत्रण करके पूरे परिवार को उपभोक्तावाद से जोड़ा जा सकेगा ।

इस सोच के अनुसार शिक्षा बच्चों के समग्र विकास की प्रक्रिया एवं उनके मानवीय हक के रूप में नहीं देखी जाती । इसी तार्किक क्रम में बच्चों को वैश्वीकरण और बाजार के लिए एक उपयोगी संसाधन की नजर से देखना जरूरी हो जाता है। अत: शिक्षा के जरिए एक बेहतर समाज का निर्माण करना कोई आवश्यक उद्देश्य नहीं रह जाता । इसलिए विश्वबैंक की उपरोक्त पुस्तक में कहीं भी यह जरूरी नहीं समझा गया कि शिक्षा के दर्शन का संदर्भ दिया जाए । विश्व बैंक की शैक्षिक दृष्टि में गांधी, टैगोर, महर्षि अरविंद और गिजुभाई बधेका जैसे लोगों के शैक्षिक दर्शन के लिए कोई स्थान नहीं है । निस्संदेह, इसी बाजारीकृत और यंत्रवत सोच का परिणाम है कि 1985-86 में ही भारत के शिक्षा मंत्रालय ने विश्व बाजार के लिए इन्सान को एक जरिया बनाने का काम शुरू कर दिया था। इस बिन्दु पर आकर भारत सरकार और विश्वबैंक के शैक्षिक सोच में कोई फर्क ढूंढना मुश्किल हो जाता है ।

विश्वबैंक की नीति के कारण शिक्षकों का भविष्य भी खतरे में है । बैंक का एक दस्तावेज कहता है कि शिक्षक की नौकरी कभी भी स्थायी न हो और वे ठैके (काण्ट्रेक्ट) पर लिए जाएं । ठेका उस प्रकार से होना चाहिए कि स्कूल का मैनेजमेंट जब चाहे उनको खारिज कर दे । शिक्षक संगठनों के लिए यह भारी चिंता की बात है क्योंकि ठेके पर रखे गये शिक्षकों का वेतन भी कम होगा । पश्चिम के देशों में शिक्षक और विश्वविद्यालय या कालेज के बीच वेतन को लेकर सौदेबाजी होती है । यह सब हमारे शिक्षकों के साथ भी हुआ करेगी, बल्कि तीसरी दुनिया के सभी शिक्षकों के साथ । इसके बावजूद भारत सरकार के अफसर कहते हैं कि डी.पी.ई.पी. तो हमारे पूरे शैक्षिक बजट का मात्र 4.2 प्रतिशत देता है ।

शैक्षिक बजट का मात्र 4.2 प्रतिशत देकर विश्व बेंक ने भारत में अपना इतना बड़ा तंत्र खड़ा कर लिया है । भारत सरकार से सवाल पूछना चाहिए कि 100 पैसों में सिर्फ 4 पैसे पाने के लिए उसने विश्व बैंक के सामने घुटने क्यों टैके ? अगर यह मात्र 4 पैसो की बात थी तो क्या भारत सरकार अपनी आर्थिक प्राथमिकताओं का पुनर्गठन करके इतना पैसा उपलब्ध नहीं करा सकती थी ? चार पैसे का का यह मामला बड़ा गंभीर है । हिन्दुस्तान के प्राइमरी और मिडिल स्कूल की शिक्षा के स्तर पर लगभग 98 प्रतिशत खर्च वेतन और रखरखाव में होता है । केवल 2 प्रतिशत खर्च शिक्षक प्रशिक्षण में और शिक्षा के कुछ साधनों पर । यानी शिक्षा की गुणवत्ता पर सिर्फ 2 प्रतिशत । तो जहां दो पैसा खर्च होता है ? वहां विश्व बैंक ने चार पैसा और दे दिया । विश्व बैंक ने अपनी शर्तों में स्पष्ट रूप से कहा है कि उनके द्वारा दिए गए पैसों कोकेवल उन्हीं मदों में लगाया जा सकेगा जहां सरकार आम तौर पर पैसा नहीं लगा रही है । और वो मद है गुणवत्ता का, जहां भारत सरकार 100 में से दो पैसे लगा रही थी ।

यदि हम भविष्य में ऐसी नीतियां बनाना चाहते हैं जिनके जरिए हिन्दुस्तान के हर बच्चे को उम्दा गुणवत्ता वाली और सार्थक शिक्षा मिले तो उसके लिए नीति के विश्लेषण का तरीका जानना और उसे लागू करना सीखना होगा । इस पद्धति के माध्यम से हम उन नीतियों को भी पहचान पाएंगे जिन्होंने विश्व बैंक को भारत की प्रारंभिक शिक्षा में हस्तक्षेप करने का मौका दिया । हमें यह भी समझना होगा कि हमारी शिक्षा नीति को ये क्या कमजोरियां हैं जिनके चलते भारत सरकार, विश्वबैंक और उसके साथ खड़ी अन्य अंतरराष्ट्रीय वित्त एजेंसियों को इनकार नहीं कर पाई । इसी विश्लेषण से हमें ऐसी नीतियों का निर्माण करने का रास्ता भी दिखेगा जिसके सहारे हम अपनी अर्थव्यवस्था की प्राथमिकताओं को पुर्नगठित करके भारत के सभी बच्चों के लिए समतामूलक और देशज नींव पर टिकी हुई लेकिन विश्व ज्ञान के सृजन में सक्रिय योगदान देने वाली शिक्षा की व्यवस्था कर पायेंगे । उपरोक्त तथ्यों और विश्लेषण से यह स्पष्ट होना चाहिए कि ऐसी शिक्षा व्यवस्था का निर्माण न भारत सरकार करेगी और न ही विश्वबैंक या कोई और अंतरराष्ट्रीय वित्त एजेंसी । इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था के निर्माण की पहल भारत के हर जन-आन्दोलनों की प्राथमिकता बननी चाहिए । जनआन्दोलनों के मंचों पर यह तय करना होगा कि भारत की बाल विरोधी और वैश्वीकरण की तर्ज पर चलने वाली शिक्षा नीति को बदलने और सरकारी स्कूली-तंत्र को आम लोगों के जीवन के लिए सार्थक बनाने हेतु किस प्रकार का जन-हस्तक्षेप किया जाए ।◆